॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष चौथा
अंक पांचवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

भाद्रपद
२४७४

कर्तव्य

देव-गुरु-धर्म के ऊपर विपत्ति आये तब राग-द्वेष करना चाहिये—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। देव-गुरु-धर्म के लिये भी राग-द्वेष करना कर्तव्य नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति में प्रतिसमय वीतरागभाव ही जीव का कर्तव्य है, रागभाव कभी भी कर्तव्य नहीं है। जब वीतरागभाव पूर्ण न हो और देव-गुरु-शास्त्र आदि के ऊपर राग-द्वेष हो, उस समय भी वह कर्तव्य नहीं है। जो किसी भी समय राग को कर्तव्य मानता है, वह अपने वीतराग ज्ञानस्वभाव को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है। और जिन्होंने अपने वीतराग स्वभाव को जाना है, वे जीव किसी भी समय राग को कर्तव्य नहीं मानते, किन्तु रागरहित ज्ञायकरूप रहना, यही सबका कर्तव्य है-ऐसा मानते हैं।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान है और ज्ञान का स्वभाव मात्र सबको जानना है, जानने में किसी भी प्रकार राग-द्वेष करना ज्ञान का स्वभाव नहीं है। जो राग होता है, वह ज्ञानस्वभाव से भिन्न है-ऐसा भेदविज्ञान करना ही धर्मी जीवों का कर्तव्य है-यह भेदविज्ञान ही धर्म है। जैसे देव-गुरु-शास्त्र के कारण राग-द्वेष करना कर्तव्य नहीं है, वैसे ही देश कुटुंब अथवा शरीर आदि किसी के लिये भी राग-द्वेष कर्तव्य नहीं है, किन्तु तीनों काल ज्ञान और वीतरागभाव ही कर्तव्य है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ४१ दर्शक मासिक पत्र

एक अंक
चार आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

अनोखी वाणी

(पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी कृत मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों से)

●● ज्ञानी समझता है कि आत्मा के स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है ●●

एकबार एक मनुष्य के दाहिने पैर में फोड़ा हो गया। डाक्टर प्रतिदिन उसे पट्टी बांधने आता था। जब वह दाहिने पैर को छुए कि वह मनुष्य रोना-चिल्लाना प्रारम्भ कर दे। ऐसा होते-होते कुछ समय पश्चात् पैर का वह फोड़ा लगभग मुरझा गया, तथापि उसको चिल्लाने की आदत पड़ गई थी; इसलिये चिल्लाता था। एक बार डाक्टर का हाथ उसके बाएं पैर पर पड़ गया तो भी वह चिल्ला उठा। तब डाक्टर ने कहा-अरे भाई! व्यर्थ ही क्यों चिल्लाता है, तेरे दाहिने पैर का फोड़ा कहीं बाएं पैर में तो नहीं आ जायेगा। तुझे वृथा चिल्लाने की आदत पड़ गई है। दु:ख होता है या नहीं, यह जानने का प्रयोजन नहीं रखता, किन्तु मात्र हाथ के लगते ही दु:ख मानकर चिल्लाने की आदत पड़ गई है।

जिसप्रकार दाहिने पैर का फोड़ा बाऐं पैर में नहीं आ सकता, उसीप्रकार पूर्व की पर्याय के राग-द्वेष वर्तमान पर्याय में नहीं आते। स्वयं ही वर्तमान में नये-नये राग-द्वेष करता है। किन्तु यदि वर्तमान में ही स्वभाव के लक्ष में एकाग्र हो तो राग-द्वेष नहीं हों। आत्मा के स्वभाव में राग-द्वेष नहीं हैं, परवस्तु राग-द्वेष नहीं कराती; ऐसे ही एक पर्याय का राग-द्वेष बढ़कर दूसरी पर्याय में नहीं आ जाता। किन्तु रागरहित आत्मस्वभाव की दृष्टि न होने से अज्ञानी ऐसा मान बैठता है कि पूर्व पर्याय का राग-द्वेष चला आता है। ऐसी मान्यता के कारण उसका पुरुषार्थ राग-द्वेष में ही रुक गया है और उसको वहीं एकत्वबुद्धि हो गई है। उस एकत्वबुद्धि को छुड़ाकर स्वभाव में अभेददृष्टि कराने के लिये ज्ञानी उसको समझाते हैं कि हे भाई! तेरे स्वभाव में राग-द्वेष नहीं है, तथा वर्तमान पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं, उनका दूसरे समय में ही अभाव हो जाता है, तू व्यर्थ ही भ्रम से राग-द्वेष को अपना स्वरूप मान रहा है। तू विचार कर कि यह रागादि परिणाम कितने अनित्य हैं! कोई भी वृत्ति स्थिर नहीं रहती, इसलिये तेरा स्वरूप ऐसा नहीं हो सकता। यदि तू ऐसे अपने रागरहित चैतन्यस्वभाव का विश्वास करे तो तेरी पर्याय में से भी राग-द्वेष दूर होने लगेगा। अपने स्वभाव के लक्ष से पर्याय में भी वीतरागता की ही उत्पत्ति होगी। इसलिये तू राग-द्वेष रहित शुद्ध ज्ञायकस्वभाव को पहिचान और उसकी श्रद्धा कर-यही दु:ख दूर करने का उपाय है। जीव ने कभी अपनी ओर

देखने का प्रयोजन ही नहीं रखा कि यह राग-द्वेष नवीन होता है या वही का वही सदा चलता रहता है, और ऐसा राग-द्वेष स्वभाव में है कि नहीं ? यदि ऐसा निश्चित करके स्वभाव की ओर उन्मुख हो कि राग-द्वेष तो अपने विपरीत पुरुषार्थ से नवीन-नवीन होता है, तो राग से भिन्न स्वभाव कैसा है उसका अनुभव हो जाय।

●● मात्र उपयोग का परिवर्तन कराना है ? ●●

इस धर्म में क्या करना आया ? पहले, जड़ का तो आत्मा कुछ करता नहीं है और जड़ में आत्मा का धर्म नहीं होता। कोई पुण्य करो, दान करो या भक्ति करो, ऐसा भी नहीं कहा है, क्योंकि यह सब विकार है; धर्म नहीं है। किन्तु अपने चैतन्य उपयोग को पर की ओर उन्मुख करके उसी में लीन हो रहा है, उस उपयोग को स्वभाव की ओर उन्मुख करके उसी में लीन करना है। 'पुण्य-पाप मेरे हैं'—ऐसी मान्यता करके अपने उपयोग को उसी में लगा दिया है, वही अधर्म है। उस उपयोग को स्वभाव की ओर आकर्षित करके 'मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्वभाव हूँ'—ऐसी स्वभाव के ओर की श्रद्धा सर्वप्रथम करना है और वही प्रथम धर्म है। उसके पश्चात् बाह्य में कुछ भी करना शेष नहीं रहता। इसीप्रकार जो व्रत, तपादिक का शुभराग होता है, वह भी धर्मात्मा का कर्तव्य नहीं है किन्तु जिस शुद्धस्वभाव की श्रद्धा की है, उसी में उपयोग को लीन करना, सो सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान का मार्ग है। धर्म के प्रारंभ से अन्त तक एक ही क्रिया है कि 'शुद्धात्मस्वभाव में चैतन्य उपयोग को लीन करना' इसके अतिरिक्त दूसरी कोई क्रिया धर्म में नहीं आती। जितनी स्वभाव में लीनता है, उतना ही धर्म है-जितनी लीनता की कमी है, उतना ही दोष है।

●● बम मारे और उससे बचने का उपाय ●●

अज्ञानी जीव इसको तो आतुरता से जानने की इच्छा रखता है कि दुनिया में कहाँ बम गिरा और कौन सी इमारत नष्ट हुई, किन्तु अनन्त गुणरूपी इमारतों से भरे हुए अपने आत्मप्रदेश में प्रतिक्षण विपरीत मान्यतारूपी बम स्वयं ही फेंक रहा है, और आत्मा की अनन्त शक्ति का नाश कर रहा है, उसे जानने का प्रयोजन नहीं रखता तथा इन बमों से बचने का प्रयत्न नहीं करता। हे जीव! बाह्य में जो बम गिरते हैं, उनसे तेरे आत्मा को कोई हानि नहीं है, किन्तु तेरे आत्मा में विपरीत मान्यतारूपी बम से तेरी ज्ञानशक्ति नष्ट होती है, उसकी ही तुझे हानि है। उससे बचने के लिये तू सच्ची श्रद्धा का प्रयत्न कर। अपनी चैतन्य-गुफा का आश्रय ले तो उसमें तुझे कोई बम नहीं लग सकता। संसार में जड़ के ऊपर बमबारी होती है, उससे बचने का तो प्रयत्न करता है किन्तु अपने

आत्मा की सच्ची प्रतीति के अभाव से गुणस्वरूप के ऊपर जो बम गिर रहे हैं और प्रतिक्षण गुण की शक्ति घट रही है, उसे तो संभाल! बाह्य के बमों से बचने का तेरा प्रयास निष्फल है, यदि बाह्य बमों से बच भी गया तो उससे तेरे आत्मा को किंचित् लाभ नहीं है। अंतर में विपरीत मान्यतारूपी बम से बचना ही सच्चा आत्मकल्याण है।

जगत के अनेक जीवों को आत्मकल्याण से प्रयोजन ही नहीं है। मात्र देहदृष्टि होने से बाह्य के बमों से और प्रतिकूलताओं से बचने का प्रयत्न करते हैं, और उसी के लिये चक्कर लगाते हैं, किन्तु अंतरंग में सम्यक्दर्शन के अभाव से मिथ्यात्व की बमबारी हो रही है तथा उसी के कारण अनन्त काल से, अनन्त भवों से अपार दु:ख भोग रहा है, और भविष्य में भी अनन्त दु:ख भोगने पड़ेंगे–इनसे बचने के लिये तो कोई–कोई जीव ही सत्समागम से प्रयत्न करते हैं। 'मैं आत्मा कौन हूँ, मेरा क्या होगा,' मेरा सुख कैसे प्रगट होगा, अनन्तानंतकाल से दु:खी होकर भटक रहा हूँ, उससे पार होने का क्या उपाय होगा, ऐसी उत्सुकता जाग्रत होकर जबतक अपना प्रयोजन न रखे, तबतक परलक्ष से जीव के ज्ञान का जितना भी विकास होता है, वह अप्रयोजनभूत पदार्थों के जानने में ही लगा रहता है; किन्तु प्रयोजनभूत आत्मस्वभाव को जानने का प्रयत्न–अभ्यास नहीं करता और उससे अज्ञान तथा दु:ख बना ही रहता है। इसलिये सबसे पहले अप्रयोजनभूत परद्रव्यों के जानने की रुचि छोड़कर अपने परम आत्मतत्व को जानने की रुचि करना चाहिये, यही कल्याण का उपाय है।

●● सम्यक्चारित्र ●●

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता–दृष्टा है। ज्ञाता–दृष्टापने में राग–द्वेष नहीं होता, अर्थात् ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव और राग–द्वेष भिन्न हैं, ऐसा भेदज्ञान करके किसी भी परद्रव्य में इष्ट–अनिष्टबुद्धि नहीं करना चाहिये, किन्तु राग–द्वेषरहित ज्ञाता–दृष्ट रहना ही सम्यक्चारित्र है। अथवा ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव को राग से भिन्न जानकर, उसमें सम्यक्प्रकार से प्रवृत्ति और राग से निवृत्ति से सम्यक्चारित्र है। वीतरागभाव इस आत्मा का ही है तथा वह सुखरूप है। मेरा स्वभाव भी सुखरूप है, किसी संयोगी पदार्थ या संयोगी भाव में मेरा सुख नहीं है, मैं आत्मा असंयोगी स्वत: सिद्ध ज्ञाता–दृष्टा वस्तु हूँ और मुझमें ही मेरा सुख है। जो जीव ऐसे स्वरूप को नहीं जानता, उसकी स्वभाव में प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु परभाव में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। स्वभाव में प्रवृत्ति होना, सो सम्यक्चारित्र है और परभाव में प्रवृत्ति, सो मिथ्याचारित्र है। जीव को राग के द्वारा समाधान और

शांति नहीं होती किन्तु स्वरूप-एकाग्रता करते ही वीतरागभाव और समस्त समाधान-शांति सहज ही होती है। सर्वसमाधानस्वरूप मोक्ष है।

●● जो आत्मा की प्रतीति नहीं करते और बहाना बताते हैं, वे वेदिया-मूर्ख हैं, प्रतीति के लिये निरन्तर मांगलिक काल ही है ●●

आत्मतत्व की प्रतीति वर्तमान में ही करनेयोग्य है। ऐसे पवित्र कार्य में क्षणमात्र का भी समय बढ़ाना योग्य नहीं है। जिसे आत्मा से प्रयोजन नहीं है, ऐसा मूर्ख-अज्ञानी जीव मानता है कि इस समय कोई बाह्य का कार्य कर लेना चाहिये अथवा अभी पुण्य कर लेना चाहिये, फिर भविष्य में सच्ची प्रतीति करूंगा। वह वर्तमान में ही आत्मा की प्रतीति का निरादर कर रहा है। अरे भाई! अनन्तानन्तकाल से संसार-समुद्र में गोते लगा रहा है, और इस समय सत्समागम द्वारा आत्मस्वभाव को समझकर संसार-समुद्र से पार होने का अवसर आया है, इस समय समझने से मुँह मोड़ना मूर्खता है। ज्ञानी कहते हैं कि आत्मस्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है, उसे तो समझता नहीं है और 'शास्त्र में क्या कहा है उसे देख लूँ' ऐसा जो मानता है, उसे शास्त्र का आश्रय हो गया है, वह वेदिया ज्योतिष की भाँति मूर्ख है।

वेदिया ज्योतिष का दृष्टांत:—एकबार कुएं में एक स्त्री गिर पड़ी, वहाँ कितने ही ज्योतिषी आ पहुँचे और उस स्त्री को कुएं में से निकालने का विचार करने लगे। एक आदमी बोला-इस समय उसे निकालने के लिये मुहूर्त अच्छा है या नहीं ?-पहले यह तो देख लो। तब दूसरा ज्योतिषी बोला-हाँ ठीक है, पहले स्त्री से पूछ लो कि उसका नाम किस राशि में है, यह सब निश्चित् कर लो। एक-दो आदमी गाँव में से ज्योतिष शास्त्र का पोथा लेने दौड़े, कोई अपने पढ़े हुए श्लोकों को याद करने लगा कि इनमें से कौनसा ठीक रहेगा, कोई स्त्री से पूछने लगा तुम्हारा नाम क्या है, कितने बजे कुएं में गिरीं इत्यादि। वह स्त्री बोली-अरे भाई! पहले मुझे बाहर निकाल लो, मैं यहाँ मरी जा रही हूँ; तब वेदिया ज्योतिष पंडित कहने लगे कि हमें अपने ज्योतिष शास्त्र का नियम तो मिला लेने दे, तू धैर्य रख। इसी समय कोई अच्छा चौघड़िया देखकर तुझे निकाल लेते हैं। उसी समय वहाँ कोई बुद्धिमान पुरुष आ पहुँचा और ज्योतिषियों से बोला-अरे मूर्खों! यह समय भी ज्योतिष देखने का है ? यह कहकर उसने रस्से आदि डालकर स्त्री को कुएं से बाहर निकाल लिया।

इसीप्रकार आत्मस्वभाव समझने के अवसर पर अज्ञानी जीव कहते हैं कि अभी समय क्या

है ? इस समय मुक्ति होती है या नहीं ? कर्म कैसे हैं ? शास्त्र में क्या कहा है ?–आदि बहुत से बहाने ढूंढ़ते हैं। किन्तु ज्ञानी उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! यह अवसर खोने का नहीं है, तुझे समय से क्या काम है ? तू जिस समय समझ ले, उसी समय तेरे लिये मांगलिक काल ही है। तेरी मुक्ति तेरे आत्मस्वभाव से ही प्रगट होती है; इसलिये उसका निर्णय कर। कर्म कैसे हैं, यह देखने का तेरा तात्पर्य है कि चैतन्यस्वभाव कैसा है ?–यह समझने का प्रयोजन है। शास्त्र में अनेकप्रकार से अनेक अपेक्षाओं को लेकर कथन होता है, उसमें स्वच्छन्दता से तेरा कहीं भी मेल नहीं बैठेगा। ज्ञानी कहते हैं कि हजारों–लाखों शास्त्रों के कथन में एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की समझ का ही तात्पर्य है। शास्त्र–समुद्र के मन्थन से एक चैतन्यरत्न ही लेने का है। इसलिये हे भाई ! ऐसे अवसर पर तू इधर–उधर के दुर्विकल्पों में न फंसकर सत् पुरुषों के कहे अनुसार अपने स्वभाव को समझ। यदि तू अपने स्वभाव को देखे तो तेरा उद्धार हो जाये। अन्य किसी भी जानकारी से तेरे आत्मा का उद्धार नहीं है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि शास्त्राभ्यास का निषेध किया है। शास्त्राभ्यास का निषेध नहीं है किन्तु उसका तात्पर्य आत्मस्वभाव को समझने का है। यदि आत्मस्वभाव को न समझे तो शास्त्रज्ञान भी जीव को मात्र मन के भाररूप है।

●● सच्ची विद्या ●●

(सा विद्या या विमुक्तये)

इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त दिया है:—एकबार एक मनुष्य नाव में बैठकर उस पार जा रहा था। उसने नाविक से पूछा—क्यों भाई नाविक ! तुझे ज्योतिष विद्या आती है ? नाविक ने उत्तर दिया नहीं। फिर पूछा—कविता बनाना आता है ? उसने कहा–नहीं। इसीप्रकार अनेक बातें पूछीं, तब नाविक बोला भाई ! मुझे यह कुछ भी नहीं आता, मैं तो नाव खेना ही जानता हूँ और तैरने की कला भी सीखी है। वह मनुष्य अपनी चतुराई बताकर कहने लगा–मुझे तो सब कुछ आता है, तूने यह कुछ भी नहीं सीखा, पानी में ही सारी उम्र गवाँ दी। इस समय नाविक कुछ नहीं बोला, वह चुपचाप रह गया। जब वह आगे बढ़ा कि नाव में एकदम पानी आ गया और नाव डूबने लगी। तब नाविक ने उस मनुष्य से कहा–देखो भाई ! अब यह नाव क्षणमात्र में ही डूबनेवाली है। तुम्हें ज्योतिष आदि विद्याएं तो आती हैं, यह मैं जानता हूँ किन्तु इस समय तुम्हारी यह कोई भी विद्या–चतुराई काम आनेवाली नहीं है, तुम तैरना जानते हो या नहीं ? उस मनुष्य को तैरना नहीं आता था, इसलिये वह हाहाकार करने लगा। नाविक बोला–कहो अब किसके दिन पानी में जायेंगे ? मुझे तो तैरना आता

है, इसलिये मैं तो तैरकर किनारे पहुँच जाऊँगा, किन्तु तुम्हें तैरना नहीं आता, इसलिये तुम और तुम्हारी सब विद्याएं पानी में डूब जायेंगी।

ऐसे ही अज्ञानी जीव, सम्यग्दर्शनरूपी तरने की कला नहीं जानते और ज्ञानी जीव वह कला अच्छी तरह जानते हैं। अज्ञानी जीव कहते हैं कि हमें तो कर्मप्रकृति का बराबर ज्ञान है, और आध्यात्मिक शास्त्रों के श्लोक तो हमारी जीभ पर ही रखे रहते हैं तथा व्रत, तपादि भी बहुत करते हैं। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई! तूने यह सब तो भले ही जान लिया किन्तु आत्मानुभव किया है कि नहीं? उससे रहित तेरी किसी भी कला से संसार का अन्त आ जायेगा, ऐसा नहीं है; तुझे आत्मशक्ति देने के लिये यह कोई भी कला समर्थ नहीं है। अल्पकाल में ही जीवन समाप्त होने पर संसार-समुद्र में डूब जायगा और तेरी समस्त जानकारी व्यर्थ जायगी। ज्ञानी भले ही कर्मप्रकृति आदि को न समझता हो, स्मरणशक्ति भी अधिक न हो तथा उसके व्रत-तपादि भी न हों, किन्तु आत्मानुभव की मूलभूत कला वह बराबर जानता है, उसका जीवन समाप्त होने के समय आत्मानुभव की शांति बढ़ जाती है और इसी सत्विद्या द्वारा वह अल्पकाल में ही संसार-समुद्र से पार हो जाता है; इसलिये यही सच्ची विद्या है।

इससे यह समझना कि-मूल प्रयोजनभूत आत्मतत्व का ज्ञान पहले करना चाहिये। आत्मस्वभाव के ज्ञानपूर्वक यदि विशेष शास्त्राभ्यास और स्मरणशक्ति हो तो उत्तम है। आत्मज्ञान -सहित विशेष शास्त्राभ्यास का कोई निषेध नहीं है, किन्तु कदाचित् किसी जीव को इसप्रकार का विशेष ज्ञान न हो तो भी आत्मज्ञान होने से उसका आत्मकल्याण नहीं रुकता, और यदि आत्मस्वभाव की पहिचान न करे तो ऐसे जीव का हजारों शास्त्रों का अभ्यास भी व्यर्थ है- आत्मकल्याण का कारण नहीं है। यदि जीव मात्र शास्त्रज्ञान में रुका रहे किन्तु शास्त्रों के विकल्प से रहित जो चैतन्य आत्मस्वभाव है, उस ओर उन्मुख न हो तो उसे धर्म नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता। अज्ञानी जीव यदि ग्यारह अंगों का भी अध्ययन कर ले, तथापि उससे उसका किंचित् आत्मकल्याण नहीं है, इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि सर्वप्रथम सम्यक् पुरुषार्थ के द्वारा आत्मस्वरूप को पहिचानो, उसकी ही प्रतीति, रुचि, श्रद्धा और महिमा करो। यही समस्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का और समस्त सत्शास्त्रों के कथन का सार है।

●● शरीर से भिन्न चैतन्यस्वरूप को पहिचान कर उसकी ही शरण ले! ●●

यह शरीर तो जड़ परमाणुओं का पिण्ड है, वे परमाणु आत्मा से भिन्न हैं, स्वतंत्ररूप से

परिणमित होते हैं, क्षणमात्र में ही अन्यरूप परिणमित हो जाते हैं। आत्मा ज्ञायकस्वरूप, चेतनायुक्त है। चैतन्य भगवान आत्मा को जड़ शरीर का आधार नहीं है, किन्तु अपने ही चैतन्यस्वरूप का आधार है। चैतन्य को राग का भी आधार नहीं है। हे जीव! तुझे तेरा चैतन्य ही शरणभूत है; शरीर या राग कोई तुझे शरण नहीं है, इसलिये शरीर और राग से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को पहिचानकर उसकी ही शरण ले।

जिसके साथ स्वप्न में भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसे इस जड़-निर्जीव के साथ सम्बन्ध मानकर अनादिकाल से दु:खी हो रहा है। हे जीव! अब उस मान्यता को छोड़ दे। मैं चैतन्य हूँ, इस शरीर के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। पूर्व में भी कोई संबन्ध नहीं था और भविष्य में भी उसके साथ कोई संबन्ध नहीं होना है। चेतन और जड़ त्रिकाल में पृथक्-पृथक् हैं। मैं चैतन्य को भूलकर पराश्रय से दु:खी हुआ हूँ; इसलिये अब स्वाधीन चैतन्य की पहिचान करके अपना हित कर लूँ। समस्त जगत का चाहे जो कुछ हो, उसके साथ मेरा संबंध नहीं है; मैं जगत का साक्षीभूत, जगत से भिन्न, अपने में निश्चल एकरूप शाश्वत ज्ञाता हूँ। वास्तव में जगत का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं अपना ही ज्ञाता हूँ।

●● शरीर और चेतना का भिन्नत्व ●●

आत्मा की चेतना अखण्ड है। असंख्यात प्रदेशी आत्मा के कभी टुकड़े नहीं होते; शरीर के दो टुकड़े भले ही हो जायें किन्तु चेतना के दो टुकड़े नहीं होते क्योंकि ज्ञान तो ऐसा का ऐसा रहता है। यदि शरीर की एक अंगुली कट जाय तो कहीं ज्ञान में से थोड़ा भाग नहीं कट जाता। क्योंकि चेतना तो अखण्ड एक अरूपी है, और शरीर संयोगी, जड़, रूपी पदार्थ है; दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। शरीर के लाख टुकड़े हो जायों, तथापि चेतना तो अखण्ड ही है। शरीर और चेतना कभी भी एक हुए ही नहीं हैं।

शरीर के कटने पर जीवों को जो दु:ख होता है, उनका शरीर कट वह दु:ख का कारण नहीं है किन्तु शरीर के साथ जो एकत्वबुद्धि है, वही अज्ञानी के दु:ख का कारण है; और साधक जीवों को जो अल्प दु:ख होता है, वह उनके अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से जो राग है, उसके कारण होता है। यदि शरीर का कटना दु:ख का कारण हो तो उस समय आत्मा का स्वतंत्र परिणाम क्या रहा? शरीर कटता हो, तथापि उस समय वीतरागी सन्तों को दु:ख नहीं होता किन्तु स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये शरीर और आत्मा सदा भिन्न हैं।

●● ज्ञान का स्वातंत्र्य ●●

पराधीन हुआ ज्ञान भी अपने आप पराधीन हुआ है, किसी अन्य ने उसे पराधीन नहीं किया है, इससे वह स्वतंत्ररूप से स्वाधीन हो सकता है। ज्ञान तो आत्मा का निजस्वरूप है और जो क्रोधादिक भाव होते हैं, वे विभाव हैं। राग-द्वेष-क्रोधादि के कारण ही ज्ञान की प्रवृत्ति पराश्रित हो रही है। ज्ञान स्वयं रागादि में रुक गया है, इसलिये ज्ञान की शक्ति निर्बल हो गई है, वह ज्ञान का ही अपराध है। यदि ज्ञान स्वयं राग में न रुककर स्वभाव में ही लीन हो तो उसकी शक्ति का पूर्ण विकास होता है। ज्ञान का विकास किसी रागादि भाव से नहीं होता किन्तु स्वभाव के ही अवलम्बन से होता है।

●● जैनदर्शन का सार-भेदज्ञान और वीतरागता ●●

जैनधर्म वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करता है। सत् को सत्रूप से और असत् को असत्रूप से स्थापन करता है किन्तु सबको समान नहीं कहता। वीतरागतारूप भाव को अच्छा कहकर उसका स्थापन करता है और राग-द्वेष-अज्ञान भावों को बुरा बतलाकर उनका निशेध करता है अर्थात् उन्हें छोड़ने को कहता है, किन्तु वह किसी व्यक्ति को भला-बुरा नहीं कहता। गुण को अच्छा कहता है और अवगुण को बुरा कहता है। गुण को अच्छा और अवगुण को बुरा जानना ही तो यथार्थ ज्ञान है, उसमें कहीं राग-द्वेष नहीं है। जैनों में गुण की अपेक्षा से पूजा करना स्वीकृत किया है। जैनदर्शन का मूल भेद-विज्ञान है; उसके लिये पहले गुण को गुण की भाँति और अवगुण को अवगुण की भाँति जानना चाहिये। जब तक गुण और अवगुण को भलीभाँति न पहिचाने, तब तक भेदज्ञान नहीं होता तथा गुण प्रगट नहीं होता और अवगुण दूर नहीं होता। सम्यक् प्रकार से, पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ करके, क्रमशः राग-द्वेष को हटाकर वीतरागता प्रगट करना, यही जैनधर्म का तात्पर्य है। अज्ञान अथवा राग-द्वेष का अंश भी हो तो वह जैनधर्म का तात्पर्य नहीं है। सम्यक्प्रकार से जितना राग-द्वेष दूर हुआ, उतना लाभ और जितना शेष रहा, उसका निषेध-ऐसी साधकदशा है।

जैनमत में जो अन्य मिथ्यामतों का खण्डन किया गया है, वहाँ वाद-विवाद का तात्पर्य नहीं है, किन्तु सत् के निर्णय का ही प्रयोजन है। अपने ज्ञान को प्रमाणिक और स्पष्ट बनाने के लिये तथा सत् की दृढ़ता के लिये वह जानना योग्य है। राग-द्वेष की वृद्धि करने के लिये वह नहीं है।

जैनधर्म तो वीतरागभावस्वरूप है। पहले सम्यग्दर्शनरूप जैनधर्म प्रगट होने से श्रद्धा में

वीतरागभाव आते हैं और पश्चात् सम्यक्चारित्ररूप जैनधर्म प्रगट होने से राग दूर होकर साक्षात् वीतरागभाव प्रगट होता है। किन्तु जबतक श्रद्धा में वीतरागभाव प्रगट न हो और राग के एक कण को भी अच्छा माने, तबतक जैनधर्म का अंश भी जीव के प्रगट नहीं होता। जैनदर्शन पहले तो श्रद्धा में और उसके पश्चात् चारित्र में वीतरागभाव कराता है। प्रारंभ से अन्त तक जो भी राग होता है, उसे वह छुड़ाता है; इसप्रकार वीतरागभाव ही जैनदर्शन का तात्पर्य है अथवा वीतरागभाव स्वयं ही जैनधर्म है, राग जैनधर्म नहीं है।

●● किसके मृत्यु का भय दूर हो सकता है ? ●●

मृत्यु का भय कब दूर होगा ? आयु के अभाव को लोग मरण कहते हैं। आयुकर्म पुद्गल परमाणुओं की अवस्था है। पुद्गल की अवस्था एक ही समय पर्यन्त की है, उसकी अवस्था का उत्पाद पहले आयुरूप था और पश्चात् किसी अन्य अवस्था में उसका परिणमन बदल गया और वह आयुरूप परिणमित न होकर अन्यरूप में परिणमित हो गया, और उसी समय शरीर के परमाणुओं का परिणमन भी बदल गया तथा आत्मा के व्यञ्जनपर्याय की उस क्षेत्र में रहने की योग्यता समाप्त हो गई और वह अन्य क्षेत्र में चला गया। इसप्रकार कर्म, शरीर और आत्मा इन तीनों की अवस्था का स्वतंत्र परिणमन प्रतिसमय हो रहा है; किन्तु इन तीनों में से कोई (कर्म, शरीर या आत्मा की व्यञ्जनपर्याय) जीव को दुःख का कारण नहीं है; दुःख का कारण तो अपना अज्ञानभाव ही है। जिसे कर्म और शरीर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव की प्रतीति है, वह तो उसका ही ज्ञाता रहता है, वह शरीरादि के वियोग से आत्मा का मरण या दुःख नहीं मानता किन्तु संयोग से भिन्नरूप अपने त्रिकाली चैतन्यस्वभाव का ही निरंतर अनुभव करता है। जिसे कर्म और शरीर से भिन्न अपने चैतन्यस्वभाव का अनुभव नहीं है—ऐसा अज्ञानी जीव, शरीरादि के वियोग से आत्मा का मरण और दुःख मानकर आकुलता और राग-द्वेष द्वारा दुःखी होता है। इसप्रकार वह जीव, अज्ञानभाव द्वारा चैतन्यस्वभाव का घात करता है, वही मरण है-हिंसा है। इसलिये जो शुद्ध चैतन्यस्वभाव को जानते हैं, उनके ही मुत्यु का भय दूर हो सकता है।

●● जीव धर्म-कार्य कब करे ? ●●

भाई ! तू आत्मा है, चैतन्य तेरा लक्षण है, तू अमूर्त है, और यह शरीर जड़ है, वह मूर्त है, तुझसे भिन्न है। आत्मा अपनी अवस्था में कार्य कर सकता है किन्तु शरीरादि परपदार्थों की अवस्था में कार्य नहीं कर सकता—ऐसा समझकर, यदि जीव अपने स्वभाव में रहे तो वह विकारी कार्य का कर्ता न हो किन्तु शुद्धपर्याय का ही कर्ता हो। शुद्धपर्याय ही धर्म-कार्य है।

●● ज्ञानी भेदज्ञान कराते हैं! ●●

जड़ और चेतन पदार्थों का परिणमन स्वतंत्र है। जड़ पदार्थों के परिणमन में चेतनगुण की आवश्यकता नहीं हैं। जड़ पदार्थों में चेतनगुण न होने पर भी उनका परिणमन स्वयं ही होता है, क्योंकि परिणमित होना प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। जड़-चेतन का भेदज्ञान और उसका फल वीतरागता है। ऐसा कहते हैं कि बिल्ली, चूहे को पकड़ती है, यदि वहाँ वास्तविक भेदज्ञान से देखें तो बिल्ली का आत्मा और उसका शरीर भिन्न है; वहाँ पर बिल्ली के आत्मा ने तो चूहे का ज्ञान किया है, और साथ ही उसे मारकर खाने का अत्यन्त तीव्र गृद्धिभाव किया है तथा मुँह से चूहे को पकड़ने की क्रिया जड़ परमाणुओं के स्वतंत्र कारण से हुई है। इसप्रकार सर्वत्र जड़-चेतन की स्वतंत्रता है। जड़-चेतन के ऐसे भेदज्ञान की समझ का फल वीतरागता है। यदि सत्य को समझे तो पर से अत्यन्त उदासीन हो जाय, किन्तु यदि ऐसा कहे कि खाना-पीना आदि समस्त शरीर की क्रियाएँ हैं और अंतरंग से उनके प्रति किंचित् भी उदासीनता न हो, तीव्र गृद्धिभाव का ही पोषण करता रहे तो उसे यथार्थरूप से स्व-पर का भेदज्ञान नहीं हुआ; वह मात्र स्वच्छन्दता के पोषण के लिये बातें करता है कि जड़ की क्रिया तो जड़ से ही होती है, किन्तु यदि वास्तव में तूने अपने आत्मा को पर से भिन्न जाना हो तो तुझे परद्रव्यों के भोगने की रुचि-भाव ही क्यों होता है ? एक ओर जड़ से भिन्नत्व की बातें करना और फिर जड़ की रुचि में एकाकाररूप से तल्लीन रहना, यह तो यथार्थ स्वच्छन्दता है, किन्तु भेदज्ञान नहीं।

प्रश्न : ऐसा सूक्ष्मज्ञान कराके क्या करना है ?

उत्तर : तुझे यह पहिचान कराना है कि तेरा आत्मस्वभाव कैसा है। ज्ञानी स्वयं पर से भिन्नरूप आत्मा का अनुभव करके कहते हैं कि हे भाई ! तुम आत्मा हो, चैतन्यस्वरूप हो, जगत के स्वतंत्र तत्व हो, तथा जड़ शरीर के रजकण भी जगत के स्वतंत्र तत्व हैं, उनकी अवस्था उनकी स्वतंत्र शक्ति से होती है, तू उसका कर्ता नहीं है। तू अपनी पर्याय में जो ज्ञान तथा क्रोधादिभाव करता है, वह तुझे शरीर नहीं कराता। तू भिन्न है और परमाणु भिन्न हैं। तेरी शक्ति और परमाणु की शक्ति भिन्न है, तेरा काम और परमाणु का काम भिन्न है। ऐसे सर्वप्रकार से जड़ से भिन्नता है, इसलिये तू अपने चैतन्यस्वभाव को देख; पर की क्रिया तेरे आधीन नहीं है। (अपूर्ण)

निमित्त-नैमित्तिक संबंध क्या है ?

श्री कुँवर नेमीचन्दजी पाटनी

मोक्षार्थी जीव को सबसे पहले ''दृष्टिविष'' दूर करने की आवश्यकता है, इसके दूर हुये बिना शास्त्रों के यथार्थ तत्व का बोध नहीं हो सकता, कारण शास्त्रों में प्रकरणवश कहीं तो निश्चय की मुख्यता से कथन किया गया होता है, कहीं पर व्यवहार की मुख्यता द्वारा कथन किया होता है लेकिन सबका तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है।

निश्चय और व्यवहार का लक्षण आलाप पद्धति में श्री देवसेनाचार्य ने किया है कि:—

अभेद अनुपचरितया वस्तु-निश्चीयत इति निश्चयः।
भेदोपचारतया वस्तु व्यवहियत इति व्यवहारः॥

अर्थात्—अभेद और अनुपचारपने से वस्तु का निश्चय करे, वह तो निश्चय है तथा भेद और उपचार के द्वारा वस्तु का व्यवहार (लोकप्रवृत्ति) करावे, उसका नाम व्यवहार है अर्थात् वस्तु का स्वरूप तो निश्चय स्वरूप अभेद अनुपचरित ही है लेकिन व्यवहार उस ही स्वरूप को भेद और उपचार के द्वारा समझाता है; अतः व्यवहार का प्रयोजन भी परम वीतराग स्वरूप वस्तु को ही प्राप्त कराने का है; व्यवहार का प्रयोजन व्यवहाररूप शुभभाव में अटकाने का नहीं होता, इसलिये साधक जीव को धर्म की साधना के लिये श्रद्धा में कभी भी शुभभावरूप व्यवहार का भी आदर नहीं होता; अशुभभाव का तो प्रश्न ही क्या है, वह तो हर हालत में ही हेय है; मात्र एक पूर्ण परमात्मस्वरूप का ही श्रद्धा में आदर वर्तता है, लेकिन अपनी पुरुषार्थ की कमी के कारण जबतक उस दशा को नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक श्रद्धा में अनादर वर्तते हुए भी अशुभ से बचने के लिये शुभभाव का आलम्बन वर्तता ही है। श्रद्धा के अनुसार चारित्र नहीं परिणमा और चारित्र को श्रद्धा के अनुसार परिणमन कराने का जो प्रयत्न वर्तता है, उसी को साधकदशा कही जा सकती है। अगर श्रद्धा में भी शुभभावरूप व्यवहार की उपादेयता वर्तती होवे तो वर्तन और श्रद्धा एकरूप परिणमन होने से साधकदशा ही नहीं रहती।

आलाप पद्धति में ही 'उपचार' का लक्षण करने में निमित्त को उपचरित कहा है।

मुख्याभावेसति प्रयोजने निमित्ते चौपचारः प्रवर्तते अर्थात्-मुख्य के अभाव होने पर प्रयोजन एवं निमित्त के लिये उपचार प्रवर्तता है।

उपरोक्त कथन के अनुसार आशय को ध्यान में रखकर हरएक शास्त्र का अर्थ समझना

चाहिये। मोक्षमार्ग प्रकाश में भी आचार्यकल्प पं. टोडरमल्लजी ने सातवें अधिकार के अंत के पृष्ठ में ऐसा ही कहा है।

''जिनमार्ग विषै कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, ताकौं तो 'सत्यार्थ ऐसे ही हैं', ऐसा जाननां, बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, ताकों 'ऐसैं है नाहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनि के व्याख्यानकौं समान सत्यार्थ जानि ऐसे भी हैं, ऐसें भी हैं—ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तनें करि तो दोऊ नयनि का ग्रहण करना कह्या है नाहीं।''

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार की कथन शैली को यथार्थ समझकर शास्त्रों में प्रवेश करना चाहिये।

(१) यथार्थ मार्ग मात्र एक वीतराग प्रणीत जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो सकता है और कोई मत दर्शन एवं धर्म में आत्मा का धर्म नहीं मिल सकता।

(२) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की किसी भी पर्याय में किसी प्रकार का भी फेरफार नहीं कर सकता, अतः पुद्गलकर्म, आत्मा की किसी दशा में कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते, आत्मा विकार करे तो कर्मों पर निमित्तपने का आरोप आता है। आत्मा, विकार करे तो कर्मों को जबरदस्ती उदय में आना पड़े, यह बात भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि आपस में एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का अत्यन्ताभाव है।

(३) यथार्थ आत्मा की समझ हुए बिना मिथ्यात्व कभी टल नहीं सकता और मिथ्यात्व टले बिना कभी आंशिक भी राग-द्वेष का अभाव नहीं हो सकता। सब पापों में महापाप मिथ्यात्व का ही है; अतः सबसे पहले मिथ्यात्व को दूर करना आवश्यक है, तब ही राग-द्वेष दूर हो सकते हैं।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही यह ट्रेक्ट ''निमित्त नैमित्तिक संबंध क्या है'' पाठकों के दृष्टि विष को दूर करने में सहायक हो, यही मेरी आन्तरिक भावना है।

विश्व की व्यवस्था

आत्मा यानी जीव एक द्रव्य (वस्तु) है, उसी प्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी ५ वस्तुऐं यानी द्रव्य हैं; हरएक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ (गुण) हैं और हरएक शक्ति की स्वतः समय-समय पर अवस्था बदलती रहती है। इस छहों द्रव्यों (वस्तुओं) के समुदाय का नाम ही

लोक यानी विश्व है। वस्तु अनादि-अनंत अविनाशी हैं, इसलिये लोक भी अनादि-अनंत और अविनाशी है। अपनी अवस्थाओं को स्वत: पलटते-पलटते द्रव्य अनादि-अनंत बना रहता है, इसीलिये विश्व भी अपनी नई नई हालतों में बदलते हुए अनादि-अनंत कायम रहता है। जबकि द्रव्य किसी का बनाया हुआ नहीं है तो इस विश्व का भी कोई बनानेवाला नहीं हो सकता।

सत्तापनां वस्तु का लक्षण

सत्तापना यानी अविनाशीपना ही द्रव्य (वस्तु) का लक्षण आचार्यों ने किया है, जैसे ''सत् द्रव्य लक्षणं'' और अपनी अवस्थाओं को पलटते-पलटते ही द्रव्य (वस्तु) अनादि-अनन्त कायम रह सकता है, इसलिये सत्ता की सिद्धि के लिये आचार्यों ने ''उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'' कहा है यानी द्रव्य (वस्तु) हरएक समय अपनी सत्ता कायम टिकाये रखते हुए भी, अपनी पूर्व अवस्था (पर्याय) का व्यय करके नवीन अवस्था (पर्याय) को प्राप्त करता रहता है।

आचार्यों ने ''गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'' के द्वारा यह समझाया है कि गुण (शक्ति) पर्याय (अवस्था) सहित ही वस्तु होती है अर्थात् शक्ति और अवस्थाओं के बिना वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

पर्याय भी निश्चयनय से स्वयं सत्, अहेतुक है

उपरोक्त कारणों से यह सिद्ध हुआ कि संसार में हरएक वस्तु अनंत गुणों (शक्तियों) को धारण करती है और हरएक शक्ति समय-समय अपनी अवस्थाओं को पलटती-पलटती अनादि-अनंत वस्तु को कायम रखती है। कोई समय भी ऐसा नहीं हो सकता कि अवस्था पलटने बिना रह जाये तथा कभी ऐसा भी नहीं हो सकता कि एक समय में दो अवस्थाऐं हो जायें क्योंकि द्रव्य की जो अवस्था पलटती है, वह स्वयं पलटती है; इसलिये निश्चयनय से हर एक पर्याय स्वयं सत् पलटती है; इसलिये निश्चयनय से हर एक पर्याय स्वयं सत् अहेतुक है और कारण अपेक्षा से पर्याय स्वयं ही स्वयं का कारण है; इसलिये इसके पलटने में कोई अन्य द्रव्य के आधार अथवा सहारे आदि की जरूरत नहीं होती, तथा जिसमें जिस समय जिसप्रकार रूप होने की योग्यता है, उसको कोई रोक भी नहीं सकता, क्योंकि ऐसा नियम है कि ''असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी नाश नहीं होता'' इसलिये जिस समय वस्तु की जिस शक्ति की जो अवस्था होनेवाली है, उस समय वह अवस्था ही होवेगी; एक समय भी आगे-पीछे नहीं हो सकती और उसकी जगह कोई अन्य अवस्था भी नहीं हो सकती तथा उस अवस्था को कोई रोकना चाहे तो रुक भी नहीं सकती, अन्यरूप भी नहीं हो सकती; दूसरी वस्तु का, दूसरी शक्ति का अथवा दूसरी अवस्था का

भी आधार नहीं रखती, इसीप्रकार जो अवस्था नहीं होने वाली है, वह हो ही नहीं सकती, कारण असत् की उत्पत्ति त्रिकाल में भी संभव नहीं है।

हरएक द्रव्य स्वचतुष्टय में अस्ति, परचतुष्टय से नास्ति स्वरूप ही है

हरएक द्रव्य की स्वचतुष्टय में अस्ति (मौजूदापना) है और परचतुष्टय में नास्ति है, इसी का नाम अनेकांत[१] और इस कथन शैली का ही नाम स्याद्वाद है। आत्मा स्वचतुष्टय में भी है और परचतुष्टय में भी है, यानी कोई द्रव्य का कार्य कभी आपसे हो तथा कभी पर के द्वारा भी हो जावे, इसका नाम अनेकांत अथवा स्याद्वाद नहीं है। जैसे आत्मद्रव्य का, स्वद्रव्य=आत्मवस्तु, स्वक्षेत्र=आत्मा के असंख्यप्रदेश, स्वकाल=आत्मा में अनंत गुणों की वर्तमान समय-समय में होने वाला परिणमन यानी पर्यायें, स्वभाव=आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनंत स्वभाविक शक्तियाँ; इसीप्रकार आत्मा की अपेक्षा से कर्म तथा नोकर्मादि पुद्गल, परद्रव्य हैं, पुद्गल के प्रदेश उसका स्वक्षेत्र जो आत्मा के लिये पर क्षेत्र है, पुद्गल के स्वगुणों की समय-समय वर्तने वाली पर्यायें, उसका स्वकाल, आत्मा के लिये पर-काल है, तथा पुद्गल की स्पर्श, रस, गंधादि अनन्त स्वाभाविक शक्तियाँ, पुद्गल का स्वभाव, आत्मा के लिये परभाव है; इसप्रकार आत्मद्रव्य की स्वचतुष्टय में अस्ति लेकिन परचतुष्टय में त्रिकाल नास्ति है यानी आत्मद्रव्य कभी भी कर्मादि पुद्गलद्रव्य के साथ मिल नहीं सकता तथा परस्पर एक दूसरे का कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते, उसी प्रकार पुद्गल कर्म की भी कोई भी पर्याय, आत्मा की कोई भी पर्याय में कुछ भी नहीं कर सकती।

इसप्रकार से सब द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में ही अनादि अनंत परिणमन करते रहते हैं और अपने परिणमन के लिये किसी को कोई दूसरे का आधार सहारा आदि नहीं है तथा किसी क्षेत्र, काल, संयोग की बाट नहीं देखना पड़ती। सबका अपनी-अपनी स्वतंत्रता से परिणमन होता ही रहता है।

सर्वज्ञपना क्या है ?

सच्चे देव का लक्षण सर्वज्ञ वीतरागपना है। सर्वज्ञ किसे कहते हैं कि जो अपने स्वभाव में

---

१. समयसार के परिशिष्ट के प्रारम्भ में देखिये—

अमृतचंद्राचार्य — यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्ध शक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः।

जयसेनाचार्य — अनेकांत इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं-अस्तित्व नास्तित्वद्वयादि-स्वरूपंपरस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकांतो भण्यते।

रहते हुए भी विश्व के समस्त द्रव्यों यानी वस्तुओं में हरएक की जिस जिस समय में, जिस जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से, जो जो अवस्था होनेवाली है, हो रही है अथवा हो चुकी है, उन सबको प्रत्यक्ष पूर्णरूप से जैसी की तैसी युगपत् जानते हैं। वीतरागी का ज्ञान पूर्ण हो चुका, इसलिये किंचित् भी न्यून नहीं जानता तथा वस्तु में जो होनेवाला है, सो सब जान लिया; अत: अधिक जानने को कुछ रह नहीं जाता, इसलिये सारांश यह हुआ कि "जिस वस्तु की जैसी अवस्था जिस समय होनेवाली है, वैसी ही सर्वज्ञ के ज्ञान में आई है, और वैसी ही होवेगी ही।"

ऐसी श्रद्धा से ही वस्तुस्वभाव का तथा सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय होता है और "परद्रव्य का मैं कुछ भी नहीं कर सकता" ऐसी अकृर्तत्वपने की भावना जाग्रत होकर अपने ज्ञायकस्वभाव की रुचि जम जाती है। यदि इससे विपरीत, परद्रव्य में कर्तृत्वपने की रुचि हो तो उसको सर्वज्ञ और वस्तुस्वभाव की प्रतीति नहीं होती।

यही स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है कि—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा॥३२१॥
तं तस्स तम्मिदेसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इन्दो वा अहजिणिंदो वा॥३२२॥

भावार्थ—जो जिस जीव के, जिस देश विषैं, जिस काल विषैं, जिस विधानकरि जन्म तथा मरण उपलक्षणतैं दु:ख-सुख, रोग, दारिद्र आदि सर्वज्ञदेव ने जाण्या है, जो ऐसे ही नियम करि होयगा सो ही तिस प्राणी के, तिसही देश में, तिसही काल में, तिसही विधान करि नियमतैं होय है, ताकूं इन्द्र तथा जिनेन्द्र तीर्थंकर देव कोई भी निवारि नाहीं सकैं है। आत्मावलोकन पत्र ३० में भी ऐसा ही कहा है।

विकार की उत्पत्ति कैसे तथा निमित्त-नैमित्तिक संबंध क्या है?

उपरोक्त सिद्धान्तों से यह निर्णय होता है कि आत्मा का जिस समय जिसप्रकार के पुरुषार्थरूप स्वकाल (योग्यता) होती है, उसीप्रकार स्वयं परिणमन करता है, लेकिन इतना जरूर है कि आत्मा जब विभावरूप परिणमन करता है, उस समय स्व से च्युत होकर परद्रव्य का आश्रयपना जरूर स्वीकारता है।

जहाँ तक स्वद्रव्य का आश्रय रखता है, वहाँ तक विकाररूप परिणमन हो ही नहीं सकता और जिस समय विकारी परिणमन है, उस समय नियम से परवस्तु का आश्रयपना भी है। यथार्थ

वस्तुदृष्टि से देखो तो किसी वस्तु का किसी के साथ आश्रयपना नहीं है, कारण परद्रव्य की पर्याय भी तो अपने स्वकाल की योग्यता के अनुसार परिणमन करती हुई स्वत: उपस्थित हुई है। वह कुछ आत्मद्रव्य को परिणमन कराने के लिये नहीं आई है, और इसीप्रकार आत्मद्रव्य की भी वह अवस्था उस परद्रव्य का कुछ करने-भोगने के लिये नहीं आई है, बल्कि वह भी अपने स्वकाल (योग्यता) से आई है।

जैसे कि आत्मा का चारित्रगुण जिस समय अपने स्वकाल के अनुसार क्रोध[१] रूप परिणमन करता है, उस सयम उसके अनुकूल ही द्रव्यकर्म अपने परिवर्तन काल के अनुसार स्वयं उदयरूप उपस्थित होते हैं और बाह्य नोकर्म भी उसी प्रकार के अपने परिवर्तन काल से स्वयं उपस्थित होते हैं और उस समय जीव स्वाश्रयपने को भूलकर पराश्रित परिणाम करता है और उन सबका आपस में एक-दूसरे से उस समय यानी उस पर्याय मात्र के लिये निमित्त-नैमित्तिक स्वतंत्ररूप संबन्ध कहा जाता है। यदि कोई उसी में निमित्त की उपस्थिति से विलक्षणता मानें तो कर्तृत्व और दो द्रव्यों की एकत्वबुद्धि का दोष आता है।

न तो उपादानरूप स्वद्रव्य की पर्याय ने निमित्तरूप परद्रव्य की पर्याय में कुछ भी अतिशय, प्रेरणा, प्रभाव आदि किया है और उसीप्रकार न निमित्तरूप परद्रव्य की पर्याय ने उपादान की पर्याय में कुछ भी किया है, जैसे कि सूर्योदय होते ही बहुधा प्राणी जाग्रत होकर अपने योग्य प्रवृत्ति करने लग जाते हैं, और सूर्यास्त होने पर विश्राम लेने लग जाते हैं, कुछ सूर्य उन प्राणियों को उपरोक्त कार्य के लिये प्रेरणा नहीं करता ?

ऐसा ही श्री पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश की गाथा ३४ में भी कहा है कि "जो सत् कल्याण का वांछक है, वह आप ही मोक्ष सुख का बतलानेवाला तथा मोक्ष सुख के उपायों में अपने आप को प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिये अपना (आत्मा का) गुरु आप ही (आत्मा ही) है।" इसपर शिष्य ने आक्षेपसहित प्रश्न किया कि "अगर आत्मा ही आत्मा का गुरु है तो गुरु-शिष्य के उपकार, सेवा आदि व्यर्थ ठहरेंगे" उसको आचार्य गाथा ३५ से जवाब देते हैं कि—

नाज्ञो विज्ञत्व मायाति विज्ञोनाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

अर्थ—अज्ञानी किसी द्वारा ज्ञानी नहीं हो सकता, तथा ज्ञानी किसी के द्वारा अज्ञानी नहीं

१. निश्चय से अपने ज्ञायकस्वभाव की अरुचि का नाम ही क्रोध है।

किया जा सकता, अन्य सब कोई तो गति (गमन) में धर्मास्तिकाय के समान निमित्तमात्र हैं अर्थात् जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करे, उस समय धर्मास्तिकाय को निमित्तमात्र कारण कहा जाता है, उसीप्रकार शिष्य स्वयं अपनी योग्यता से ज्ञानी होता है तो उस समय गुरु को निमित्त मात्र कहा जाता है; उसीप्रकार जीव जिस समय मिथ्यात्व, रागादिरूप परिणमता है, उस समय द्रव्यकर्म और नोकर्म (कुदेवादि को) आदि को निमित्तमात्र कहा जाता है जो कि उपचार कारण है। उपादान स्वयं अपनी योग्यता से जिस समय कार्यरूप परिणमता है तो ही उपस्थित क्षेत्र, काल, संयोग आदि में निमित्त कारणपने का उपचार किया जाता है, अन्यथा निमित्त किसका ?

निमित्त को जुटाना नहीं पड़ता

जिस समय उपादान कार्य परिणत होता है, उस समय योग्य निमित्त अपनी स्वतंत्रता से स्वयं उपस्थित होते हैं।

ऐसा नहीं हो सकता कि किसी भी द्रव्य की जिस समय जैसा परिणमन होने की योग्यता है, उस समय उसके अनुकूल निमित्त विश्व में नहीं हो और उसका उसरूप परिणमन होना रुक जावे, अथवा किसी क्षेत्र, काल, संयोग की बाट देखनी पड़े अथवा निमित्त को जुटाना पड़े, क्योंकि ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध का स्वरूप नहीं है।

हरएक द्रव्य की एक समय की पर्याय के परिणमन में छहों द्रव्यों की वर्तमान पर्यायों का कोई के साथ भावरूप कोई के साथ अभावरूप निमित्त-नैमित्तिक संबन्ध होता है, यही सहज स्वतंत्र विश्व की व्यवस्था है। श्री स्वामी अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार, गाथा ३ की टीका में ऐसा ही कहा है कि—

''इसलिये सब ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, जीवद्रव्यस्वरूप लोक में जो कुछ पदार्थ हैं, वे सभी अपने द्रव्य में अंतर्मग्न हुए अपने अनंत धर्मों को चूंबते-स्पर्शते हैं तो भी आपस में एक दूसरे को नहीं स्पर्श करते। और अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप तिष्ठ रहे हैं तो भी सदाकाल निश्चय कर अपने स्वरूप से नहीं चिगते, इसीलिये विरुद्ध कार्य-(पर से नास्तिरूप कार्य) और अविरुद्ध कार्य-(स्व से अस्तिरूप कार्य) इन दोनों हेतुओं से हमेशा सब आपस में उपकार करते हैं।'' निमित्त अपने परिवर्तन काल से जिस समय जो आने वाला है, वही आता है, कुछ इसके लाने से नहीं आता। अज्ञानी व्यर्थ का मिथ्या अभिमान करता है कि मैंने परद्रव्य में कुछ कार्य कर दिया यानी पुरुषार्थ करके निमित्त को जुटाया। जैसे कि किसी बैलगाड़ी के नीचे कोई

कुत्ता चलने लगा और वह मानने लगा कि इस गाड़ी को मैं ही चला रहा हूँ तो यह उसका मिथ्या अभिमान है।

यहाँ कोई कहे कि सर्वत्र उपादान की मुख्यता से ही कार्य होता है और निमित्त की मुख्यता से कभी नहीं होता—ऐसा माना जावे तो, एकांत हो जाता है ?

उसका समाधान यह है कि श्री स्वामी अमृतचन्द्राचार्य ने अनेकान्त का स्वरूप ऐसा बतलाया है कि ''एक वस्तु में वस्तुपने की निपजानेवाली, अस्ति-नास्तिरूप दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना, सो अनेकांत है'' इसलिये ''हरएक वस्तु में उपादान की मुख्यता से कार्य होता है, निमित्त की मुख्यता से नहीं'' इसी में अनेकांत की सिद्धि होती है, अन्यथा मानने से दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशन नहीं होकर एकांत अस्ति आने से, निमित्त की मुख्यता से कभी भी कार्य होने की मान्यता में दो द्रव्य की एकतारूप एकांत ही होता है तथा ऐसी मान्यता में किसी भी समय कोई अवस्था में भी जीव की स्वतंत्रता नहीं रहती और श्रद्धा में हमेशा भय बना रहता है कि प्रतिकूल कर्म का संयोग आ जावेगा तो ? ऐसे भयवान पुरुषार्थ वाला, स्वतंत्र परिपूर्ण निरपेक्ष ज्ञायक स्वभाव की श्रद्धा करने का बल कहाँ से लायेगा ?

इससे सारांश यह निकला कि कोई किसी द्रव्य के परिणमन का व्यवहार से भी कर्ता-हर्ता नहीं हैं, मात्र व्यवहार से ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहा जाता है।

पर में कर्तृत्व की मान्यता ही रागादि को पैदा करती है

उपरोक्त सिद्धान्त से यह निर्णय हुआ कि ''मेरा आत्मा अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को छोड़कर, स्त्री-पुत्रादि समस्त अन्य जीव तथा धन, मकान, जेवर, जवाहरात, देश, गांव आदि समस्त परद्रव्य की किसी भी पर्याय को नहीं कर सकता।'' जब मैं किसी को भी नहीं कर सकता और नहीं रोक सकता तथा परद्रव्य भी मेरा कुछ भी नहीं कर सकते तथा रोक सकते, ऐसी श्रद्धा हो गई तो फिर ''मैं परद्रव्य को ऐसा कर दूं, वैसा कर दूं'' इत्यादि विकल्प करना आत्मा का कर्तव्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने का अभिप्राय मिथ्या है। जैसे कोई व्यक्ति अगर मुर्दे को जीता माने या जिलाना चाहे तो उसका यह अभिप्राय मिथ्या ही है, उसीप्रकार परद्रव्य में कर्तृत्वपना यानी पर से किसीप्रकार भी लाभ-हानि मानना मिथ्या है, और यही राग-द्वेष का मूल है। संक्षेप में कहो तो पर में करने की जिज्ञासारूपी राग, और बाधक के प्रति द्वेष जब ही आता है, जब कि आत्मा पर में अकर्तृत्वपने के स्वभाव (ज्ञायकमात्र) को भूलकर पर में कर्तृत्व मानने लगता है, और वही परद्रव्य में एकत्वबुद्धि है, जो संसार का मूल है।

अपने ज्ञायक स्वभाव के निर्णय और आश्रय में ही पर में अकर्तृत्व आता है, और यही मोक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ है

परद्रव्यों से कर्तृत्वबुद्धि हटाकर अपने स्वभाव की ओर दृष्टि करने पर मात्र ज्ञाता-दृष्टापना ही अनुभव में आता है, अतः रागादि भावों का अस्तित्व ही नहीं दीखता। इसलिये ज्ञानी मात्र ज्ञायकपने के सिवाय रागादि का भी कर्तृत्व नहीं स्वीकारता, उन सबको भी ज्ञेयतत्व में डालता है, क्योंकि रागादि पराश्रय करने से ही होते हैं। अपने स्वभाव से च्युति होने पर ही पर्याय में होनेवाले रागादि अनुभव में आते हैं, सो उनकी उत्पत्ति में भी मात्र अपने वर्तमान पुरुषार्थ की निर्बलता को ही कारण मानता है, कोई परक्षेत्र, काल, संयोग, अथवा कर्मादि को नहीं; फिर भी ज्ञायकस्वभाव के जोर में उनकी उपेक्षा होने से रागादि टूटते ही जाते हैं और स्वभाव का बल बढ़ता ही जाता है। इसी के जोर में रागादि को उपचार से कर्मकृत कहा जाता है, स्वच्छन्दी होने को नहीं। रागादि की उत्पत्ति परद्रव्य के आश्रय करने से ही होती है और स्वद्रव्य (ज्ञानस्वभाव) के आश्रय करने से निरंतर निर्मलता की उत्पत्ति होती है। ऐसे निर्णय से ही सर्व विश्व से उपेक्षा हो जाने से श्रद्धान में अत्यन्त निराकुलता आ गई, यही परमसुख, स्वाभाविक सुख, आत्मीयसुख है, और उसी ज्ञायकस्वभाव की दृढ़ता एवं रमणता से चारित्र में परम निराकुल शांति होने लगी, और जब अक्रम उपयोग से मात्र ज्ञायकपना ही रह गया और कभी एक समय के लिये भी स्वभाव से च्युति नहीं है, ऐसी अवस्था विशेष का नाम ही मोक्ष है, वही अविनाशी परम परम उत्कृष्ट निराकुलताजनित सुख है। उसी का आंशिक अनुभव उपरोक्त निर्णय में ठहरने के समय सम्यक्त्वी आत्मा को भी होता है, संक्षेप में कहो तो द्रव्यदृष्टि यानी स्वभावदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि, और पर्यायदृष्टि यानी निमित्ताधीन दृष्टिए सो मिथ्यादृष्टि। स्वभावदृष्टि से मोक्ष और पर्यायदृष्टि से संसार भ्रमण होता है।

तब रागादि का कर्त्ता कौन है ?

अब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि, रागादि आत्मा की अवस्था में ही होते हुए भी आत्मा को उसका कर्त्ता कैसे नहीं माना जावे ? समाधान इसप्रकार है कि—

ज्ञानी आत्मा निरंतर अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को अनुभवता होने से और उसी का स्वामी होने से रागादि का कर्त्ता नहीं है, और अज्ञानी, स्व से च्युत होकर रागादि में कर्तृत्व, स्वामित्व रखता होने से रागादि का कर्ता है। अज्ञानी वर्तमान एक-एक समय की अवस्था में अपने स्वभाव का आश्रय चूककर किसी अन्य द्रव्य (निमित्त) का आश्रय स्वीकार करता है, जिनको ज्ञानावरणादि

द्रव्यकर्म के नाम से पुकारा जाता है; फलतः उस पर्याय में निमित्त के संबंधरूप नैमित्तिक विकार उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं हो सकता कि परद्रव्य का आश्रय किये बिना ही आत्मा भूल करता हो, तथा ऐसा भी नहीं है कि परद्रव्य आत्मा को भूला करा देता हो, अनादिकाल से ही एक-एक समय की भूल को लंबाते हुए इस आत्मा को स्वभाव से च्युत होने का तथा पराश्रय करने का अभ्यास पड़ा हुआ है। इसी कारण अनादिकाल से इसको ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों के निमित्तपने का संबंध एक-एक पर्याय में ही संतान क्रम से लगा हुआ है। जिस काल यह आत्मा अपने पुरुषार्थ से किंचित् काल के लिये भी पराश्रय छोड़ स्वाश्रयपना स्वीकार करेगा, इन द्रव्यकर्मों का संबन्ध भी इसके छूटता ही चला जावेगा और थोड़े ही काल में सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जावेगी, इसप्रकार ज्ञानी जीव, अपने ज्ञायकस्वभाव के बल से अपने ही अवस्था में होनेवाले रागादि विभावों को दूर करने के लिये, भेदज्ञान के द्वारा, अन्य किसी भाव का भी अपने में अस्तित्व नहीं स्वीकारने से, अन्य सब जैसे भी जो भाव हों, सब परभाव में डालकर उपेक्षित रहता है और अपने ज्ञानमात्र में जागृत रहता है। निरन्तर एक स्वभाव की ही मुख्यता होने से अन्य सब गौण हो जाते हैं।

अपनी पर्याय में होनेवाले क्षणिक रागादि को अपना स्वरूप नहीं मानते हुये भी वर्तमान पर्याय में चारित्र में जितने अंश च्युत होता है, उतनी ही अपनी निर्बलतारूपी भूल को स्वीकारता है। इसलिये आप स्वच्छन्दी नहीं बनता।

जिसको अपने स्वभाव का ज्ञान नहीं, अपने कर्तव्य का होश नहीं, और समझने का पुरुषार्थ नहीं, वह कहे कि "मेरे कर्म का उदय ही ऐसा है कि मुझे आत्मरुचि नहीं होती, क्रोधादि होते हैं, क्या करें-कर्म जैसा नचाता है, वैसा ही नाचना पड़ता है, यह जीव तो कर्म का खिलौना है, आदि आदि" ऐसा जो कोई मानता है, वह मिथ्यात्वी, सांख्यमती की भांति है।

श्री स्वामी अमृतचन्द्राचार्य ने भी समयसार के कलश २०५ में ऐसा ही कहा है कि—

मा कर्तारममी स्पृशंतु पुरुषं सांख्याइवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वंतूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यतु च्युतकर्तृ भावमचलं ज्ञातारमेकं परं॥२०५॥

अर्थ—अरहंत के मत के जैनी जन हैं, वे आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता सांख्यमतियों की तरह मत मानो, उस आत्मा को भेदविज्ञान होने के पहिले सदा कर्त्ता मानो और भेदज्ञान होने के बाद

उद्धत ज्ञान मंदिर में निश्चित नियमरूप कर्तापनकर रहित निश्चल एक ज्ञाता ही अपने आप प्रत्यक्ष देखो।

जो जीव, रागादि को कर्मकृत मानकर स्वच्छन्दी एवं निरुद्यमी हो रहे हैं, उनको आचार्य कहते हैं कि रागादि जीव के आस्तित्व में है और वर्तमान पर्याय में आप करता है, ''जो करता है, वही नाश कर सकता है'' इसलिये भेदज्ञान के पहले तो रागादि का कर्त्तापना मानो और भेदज्ञान के बाद शुद्ध ज्ञायकस्वभाव के आश्रय के बल से रागादि का कर्त्ता न मानों। ये रागादि पराश्रय करने से होते हैं, अत: उससे उपेक्षा करके अपने एक निश्चय स्वभाव को ही मुख्य करके उपचार से रागादि को कर्मकृत कहने का उपचार है।

इसी अपेक्षा को लेकर ग्रन्थों में अनेक जगह ज्ञानी जीव की अपेक्षा इन विभावों का कर्ता उपचार से कर्म को कहा गया है। जिसका प्रयोजन परद्रव्य का संयोग संबन्ध बतलाना मात्र है।

इसप्रकार किसी भी ग्रन्थ का अभिप्राय परद्रव्य से अपना बिगाड़-सुधार बतलाने का नहीं है लेकिन स्वभाव से च्युत होने के समय संयोग-संबंध (निमित्त-नैमित्तिक संबंध) किसप्रकार का स्वतंत्ररूप से होता है—यही बतलाकर भेदज्ञान कराने का तथा अपने चिदानन्दस्वरूप में रमणता कराने का ही प्रयोजन है।

इसलिये जहाँ यह विषय आवे, उपरोक्त अपेक्षा लगाकर समझने से यथार्थ वस्तु समझने में कभी भूल नहीं होगी और यथार्थ मार्ग मिलेगा, अन्यथा अनादिकाल से जो ''अपनी भूल दूसरे के सिर डालकर स्वयं भूल रहित स्वच्छन्दी बनने का अभ्यास'' पड़ा हुआ है, वही जारी रहेगा, जिससे संसार भ्रमण का कभी अंत नहीं आ सकता।

गोम्मटसारादि की कथनी की उक्त कथन से संधि

अब यहाँ कोई कहे कि गोम्मट्टसारादिक बड़े-बड़े ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर यह आता है कि आत्मा को तीव्र क्रोध कषायरूप द्रव्यकर्म के उदय में तीव्र क्रोध होता है, मंद उदय में मंद आदि-आदि तो यह कैसे ? उसका समाधान यह है कि यह कथन संयोगसंबन्ध बतलाने मात्र को है, वास्तव में तो आत्मा की स्वभाव से च्युति का नाम ही विभाव है। वह विभाव, च्युति की अपेक्षा से सामान्यरूप है, तो भी तारतम्यता की अपेक्षा से तथा जुदा जुदा गुणों की पर्यायों की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है और उस विभाव के समय जिस निमित्तरूप परद्रव्य का आश्रयपना स्वीकार है; वह भी अनेक प्रकार का है, फलत: विभाव के भी अनेक प्रकार प्रत्यक्ष ही अनुभव में आते हैं,

इसलिये जितने प्रकार विभावों के हैं, उतने ही प्रकार उन निमित्तरूप परद्रव्यों के हैं, चूंकि विभाव समय-समय की अपेक्षा अनन्त प्रकार को लिये हैं, इसलिये निमित्त भी अनन्त प्रकार के हैं। आचार्यों ने निमित्त की मुख्यता से कथन करके उपादान में होनेवाले विकारीभावों को, इन दोनों पर से दृष्टि हटाकर यानी आश्रय छोड़कर, अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का आश्रय लेने के लिये समझाया है।

जैसे कि मोहनीयकर्म की दर्शनमोहनीय प्रकृति के उदय से तथा चारित्रमोह की अनंतानुबन्धी प्रकृति के उदय में यह आत्मा सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता, ऐसे निमित्त के कथन की मुख्यता का जहाँ विवेचन हो, इसका अभिप्राय यह समझना कि आत्मा की जिस पर्याय की स्वभाव से च्युति है, उस पर्याय ने निमित्तरूप परद्रव्य का आश्रय लिया हुआ है, वह आश्रय कौन है ? कि दर्शनमोहनीय प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी प्रकृति की उस समय की पर्याय का। तो उस पर्याय में सम्यग्दर्शनपने का अभाव है, यानी जो पर्याय जिस समय उपरोक्त प्रकृतियों की पर्याय के निमित्तपने से जुड़ी हुई होगी, उस पर्याय की सम्यग्दर्शन के अभावरूप मिथ्यात्व अवस्था होगी। इसका मतलब यह कभी भी नहीं है कि उपरोक्त प्रकृतियाँ उदय में आई, इसलिये आत्मा की पर्याय मिथ्यास्वरूप हो गई। जो ऐसा समझते हैं, वे मूल में ही भूल करते हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का कर्तापना मानते हैं, जो त्रिकाल असत्य है।

निज स्वभाव की श्रद्धा ही कर्तव्य है।

सारांश यह है कि गोम्मट्टसारादि ग्रन्थों की कथनी आत्मा में होनेवाली विकारी अवस्था को बतलानेवाला माप है। जैसे कि शरीर की गर्मी यानी बुखार नापने को थर्मामीटर ! कभी थर्मामीटर बुखार पैदा नहीं करता, वह तो जितना बुखार हो, वह बतला मात्र देता है; उसीप्रकार निमित्तरूप द्रव्यकर्म की कथनी से आत्मा की समय-समय में होनेवाली विकारी अवस्था का ज्ञान मात्र हो जाता है, उससे कुछ विकार नहीं घट सकता। इसका प्रयोजन तो निमित्त और शुभाशुभ विकार दोनों पर से दृष्टि हटाकर यानी आश्रय छोड़कर, स्वभाव का आश्रय कराने का है। इसलिये अपने अखण्ड, अभेद, निरपेक्ष, ध्रुव ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा उसी का श्रद्धान ज्ञान एवं आचरण करना ही हम सबका मात्र कर्तव्य है, उसी के लिये आचार्यों ने सर्वप्रथम तत्वनिर्णयरूप अभ्यास करने का ही जगह-जगह उपदेश दिया है; अतः आत्मोपलब्धि के लिये तत्वनिर्णयरूप अभ्यास सर्वप्रथम कर्तव्य है। ●

आत्म-भावना

[गतांक से आगे]

जब सिद्ध होऊँ, उस समय ही नहीं किन्तु तीनलोक और तीनकाल में मैं स्वभाव से परिपूर्ण ही हूँ। निगोद अवस्था के समय भी मैं परिपूर्ण था। पहले मेरी आँखें बन्द थीं (अज्ञान था), उससे मुझे मेरी पूर्णता की प्रतीति नहीं थी, परन्तु जब आँख खुली (सम्यग्ज्ञान हुआ), तब पूर्णता की प्रतीति हुई। अज्ञानदशा के समय भी मैं तो पूर्ण ही था। शुद्ध निश्चयनय से सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण हूँ, और समस्त जीव भी ऐसे ही हैं—ऐसी भावना करना चाहिये। जब समस्त जीव परिपूर्ण हैं; रागादिभाव किसी भी जीव का स्वभाव नहीं है तो मैं किस जीव पर राग करूँ? और किस जीव पर द्वेष करूँ? अर्थात् इस भावना में वीतरागता का ही अभिप्राय आया।

प्रश्न—पर्याय में दोष तो है, तो यह पर्याय कहाँ गई?

उत्तर—भाई! पर्याय में दोष है, उसकी तो ज्ञानी को खबर है परन्तु दोष की भावना करने से वह दोष टलता है? अथवा दोष रहित पूर्णस्वभाव की भावना से दोष टलता है? पर्याय में दोष होने पर भी, स्वभाव परिपूर्ण है और दोष रहित है, यह स्वभाव की ही भावना कर। स्वभाव की भावना द्वारा पर्याय का दोष छुड़ाते हैं। जो शुद्ध निश्चयनय से पूर्ण स्वभाव है, उसकी भावना कर्तव्य है, और व्यवहार की भावना त्याग करने योग्य है। व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की भावना को भी दूर कर दे। अवस्था में व्यवहार है किन्तु उसकी यहाँ भावना ही नहीं है। स्वभाव की ही भावना से अवस्था के विकल्प को दूर करते हैं। जहाँ अवस्था अपने ही स्वभाव की भावना में लीन हुई; वहाँ दोष कहाँ रहा?

तीनकाल और तीनलोक में मैं शुद्ध ज्ञान-आनंदस्वरूप ही हूँ, और समस्त जीवों का वास्तविक स्वभाव परिपूर्ण और विकार से रहित है; विकार को हम जीव कहते ही नहीं। इसप्रकार आत्मस्वरूप की भावना करना चाहिये।

मन से, वचन से और काय से यही भावना करना चाहिये। यदि विकल्प उठे तो परिपूर्ण स्वभाव की ही महिमा करना चाहिये और वचन से भी परिपूर्ण स्वभाव की ही भवना करना चाहिये तथा शरीर की चेष्टा में भी यही भावना करना चाहिये। परिपूर्ण स्वभाव के अतिरिक्त कोई पुण्य-पाप की, व्यवहार की अथवा परद्रव्यों की भावना मन से नहीं करना, वाणी से नहीं कहना, तथा

शरीर की चेष्टा से भी उसकी भावना नहीं बताना चाहिये। यदि पर-जीव की ओर का विकल्प उठे तो वह जीव भी परिपूर्ण स्वभाववाला है, ऐसी भावना करना चाहिये। निगोद या सर्वार्थसिद्धि, एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय; रंक या राजा; निर्धन या धनवान; मूर्ख या पंडित; बालक अथवा वृद्ध; नारकी या देव; तिर्यंच अथवा मनुष्य, इन समस्त आत्माओं का स्वभाव सहज ज्ञानानन्दमय परिपूर्ण ही है, पर्याय का जो विकार है, वह उनका स्वभाव नहीं है। मन-वचन-काय से अपने तथा पर के आत्मा की इसीप्रकार भावना करना चाहिये। स्वयं ऐसी भावना करना तथा ऐसी ही भावना कराना और अनुमोदन भी ऐसी ही भावना का करना चाहिये। किसी व्यवहार की भावना करना नहीं, कराना नहीं और अनुमोदन नहीं करना। मन से अच्छा नहीं मानना, वचन से उसकी प्रशंसा नहीं करना तथा काय की चेष्टा से उसे अच्छा नहीं बताना। सम्पूर्ण रीति से अपने परिपूर्ण स्वभाव की ही भावना करना चाहिये। ऐसी ही भावना निरन्तर कर्तव्य है।

९—समयसार शास्त्र को जानकर भव्यजनों को ऐसी ही भावना करने योग्य है, जिनेन्द्रदेव के कहे हुए समस्त शास्त्रों को जानकर यही करना है।

प्रश्न—ऐसी भावना करने के पश्चात् व्रत, तप आते हैं या नहीं ?

उत्तर—परिपूर्ण आत्मस्वभाव की ही भावना धर्मात्मा का कर्तव्य है। व्रत, तप के शुभराग की भावना कर्तव्य नहीं है। मात्र स्वभाव की भावना से ही सम्यक्दर्शन और मुक्ति होती है, यही जीवन का कर्तव्य है। स्वभाव की भावना के अतिरिक्त अन्य कोई भावना धर्मात्मा का कर्तव्य नहीं है।

बारहअंग और चौदहपूर्व को समझकर यही कर्तव्य है, आत्मस्वभाव की भावना ही सबका सार है। इसके अतिरिक्त व्रत, त्याग, तप, शास्त्रों का पढ़ना यह सब निष्फल है। प्रारम्भ से अन्त तक यही कर्तव्य है। यही कर्तव्य करके समस्त तीर्थंकर, गणधर, सन्त-श्रावक और सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं ने मुक्ति पाई है। यही भावना करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है; इसलिये यही भावना समस्त जीवों का कर्तव्य है।

१०—श्री महावीर भगवान के निर्वाण कल्याणक का दिन निकट आ रहा है, महावीर भगवान ने भी ऐसी भावना से ही सिद्धदशा प्राप्त की थी। ऐसी ही भावना से परमात्मस्वभाव की प्रतीति होती है और इसे जानने के बाद भी यह भावना ही करने योग्य है, दूसरा जो भी बीच में आता है, वह कर्तव्य नहीं है। जिसे स्वभाव का विवेक होता है, उसे ही समस्त व्यवहार का विवेक हो

जाता है, किन्तु ऐसी प्रतीति के बिना व्यवहार की भी सच्ची समझ नहीं आती। ऐसी स्वभाव-भावना में ही दया, सामायिक इत्यादि सर्व धर्मों की क्रियायें समाविष्ट हो जाती हैं। इसके बिना सामायिक, प्रोषध, दया इत्यादि जो कुछ करेगा, वह सब चक्र ही है, उसमें धर्म नहीं है; कल्याण नहीं है। इसलिये—

प्रत्येक जीव का निरन्तर उपरोक्त अपने आत्मस्वभाव की भावना करना ही कर्तव्य है और यही महान मंगल है।

सूचना

कई जिज्ञासु भाइयों के सोनगढ़ आने का मार्ग आदि पूछने को पत्र आते हैं, इसलिये सबकी जानकारी के लिये यह सूचना दी जाती है ताकि सब को सुविधा रहे।

१- दिल्ली, अजमेर, अहमदाबाद लाइन पर महसाना जंकशन से सुबह-शाम दो बार सीधी भावनगर के लिये गाड़ी मिलती है और अहमदाबाद से भी सुबह धंधूका होकर सीधी भावनगर की गाड़ी मिलती है, इसके अतिरिक्त भी अहमदाबाद से वीरमगाँव बदलकर सुबह शाम दो बार भावनगर के लिये गाड़ी मिलती है, इन सब गाड़ियों से धोला जंकशन से दूसरा स्टेशन सोनगढ़ आता है।

२- स्टेशन से श्री जैन स्वाध्याय मंदिर एक मील करीब है, हर समय तांगे स्टेशन पर मिलते हैं।

३- भोजन व ठहरने का यहाँ प्रबंध है।

४- यहाँ से पालीताना (शत्रुंजय) करीब १४ मील है और जाने की अच्छी सुविधा है।

५- गिरनार क्षेत्र भी यहाँ से नजदीक है।

ATMADHARMA With the permission of the Baroda Govt. order No. 30-24 date 31-10-44 Regd. No. B. 4875

श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दि. जैन पारमार्थिक ट्रस्ट मारौठ (मारवाड़) के अन्तर्गत

पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला से

समयसार प्रवचन

(प्रथम भाग) हिन्दी का प्रकाशन

आपको यह सूचित करते हुये परम हर्ष हो रहा है कि 'समयसार प्रवचन' हिन्दी में भी छप रहा है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत समयसार मूल और श्री अमृतचंद्राचार्य कृत संस्कृत टीका पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजी स्वामी ने विस्तृत प्रवचन किये हैं, जिनमें समयसार के मर्म को खोलकर रख दिया गया है। समयसार के रहस्य को इतने विस्तार से प्रगट करनेवाला अभी तक कोई टीका-ग्रंथ नहीं था। इन प्रवचन-ग्रन्थों को पढ़कर समाज परमागम के रहस्य को सरलतापूर्वक समझ सकेगी।

यह समयसार प्रवचन गुजराती भाषा में ४ भागों में मुद्रित हो चुका है, उनमें से अभी प्रथम भाग का मुद्रण हो रहा है। प्रथम भाग के लगभग ५०० पृष्ठ होंगे, जो कि बहुत ही जल्दी प्रगट हो रहा है।

प्रथम तो हमारी योजना यह थी कि-समयसार प्रवचन फुटकल नहीं बेचे जायेंगे, किन्तु बाद में समयसार प्रवचन के अधिक प्रचार के लिये यह योजना परिवर्तित कर दी। अभी प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है तथा फुटकल बेचा जा सकेगा। अत: हम आपसे यह चाहते हैं कि आप अपने लिये अथवा मंदिरजी के लिये समयसार प्रवचन की एक प्रति के लिये शीघ्र ही ५/- पाँच रुपया मनीआर्डर से भेज दीजियेगा।

हमारी भावना है कि समयसार प्रवचन भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर में एवं प्रत्येक जिज्ञासु तक पहुँच जाय। इसके लिये आपका सहयोग अत्यावश्यक है। आशा है, आप इस जिनवाणी-रहस्य के प्रचारार्थ समुचित प्रयत्न करेंगे।

अभी तक तो प्रकाशन की व्यवस्था आत्मधर्म कार्यालय कर रहा था, आगे संपूर्ण व्यवस्था ट्रस्ट ही करेगा। अभी प्रथम भाग के प्रकाशन की व्यवस्था की गई है तथा अधिक प्रचार और पाठकों की रुचि होने पर आगे के भाग प्रकाशित किये जावेंगे।

अत: जो महाशय २५/- रुपया देकर ५ भागों के ग्राहक बन गये हैं, उनसे निवेदन है कि आगे के भाग प्रकाशित होंगे तब भेज दिये जावेंगे। जो महाशय हमारे दृष्टिकोण को योग्य समझते हों वे रुपया जमा रख सकते हैं, अन्यथा पत्र आने पर बाकी रुपये भेज दिये जावेंगे, तथा जब आगे के भाग प्रकाशित होंगे तब सूचित किया जावेगा।

निवेदक—

नेमीचंद पाटनी, मंत्री

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.०८-०९-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड